श्रीमद् भागवत का यह सार
भगवद् भक्ति ही आधार

श्रीमद्भागवत रसिक कुटुंब

श्रीमद्भगवद्गीता सप्तमो अध्याय

पार्थ सारथी ने समझाया धर्म -कर्म का ज्ञान,
मानव जीवन सफल बना ले गीता अमृत मान।

नारायणं(न्) नमस्कृत्य, नरं(ञ्) चैव नरोत्तमम्।

देवीं(म्) सरस्वतीं(वँ) व्यासं(न्), ततो जयमुदीरयेत्

अन्तर्यामी नारायण स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्य सखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उन लीलाओं का संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यास को नमस्कार करके जय के साधन वेद-पुराणों का पाठ करना चाहिये।

नामसङ्कीर्तनं(यँ) यस्य, सर्वपापप्रणाशनम्।

प्रणामो दुःखशमनस्, तं(न्) नमामि हरिं(म्) परम्

जिन भगवान के नामों का संकीर्तन सारे पापों को सर्वथा नष्ट कर देता है और जिन भगवान के चरणों में आत्मसमर्पण, उनके चरणों में प्रणति सर्वदा के लिए सब प्रकार के दुःखों को शांत कर देती है, उन्हीं परम -तत्वस्वरूप श्रीहरि को मैं नमस्कार करता हूं।

श्रीमद्भगवद्गीतायां(म्)

सप्तमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः(फ्) पार्थ, योगं(यँ) युञ्जन्मदाश्रयः ।

असं(म्)शयं(म्) समग्रं(म्) मां(यँ), यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥ 1 ॥

श्री भगवान बोले- हे पार्थ! अनन्य प्रेम से मुझमें आसक्त चित तथा अनन्य भाव से मेरे परायण होकर योग में लगा हुआ तू जिस प्रकार से सम्पूर्ण विभूति, बल, ऐश्वर्यादि गुणों से युक्त, सबके आत्मरूप मुझको संशयरहित जानेगा, उसको सुन ।

ज्ञानं(न्) तेऽहं(म्) सविज्ञान- मिदं(वँ्) वक्ष्याम्यशेषतः ।

यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्- ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ 2 ॥

मैं तेरे लिए इस विज्ञान सहित तत्व ज्ञान को सम्पूर्णतया कहूँगा, जिसको जानकर संसार में फिर और कुछ भी जानने योग्य शेष नहीं रह जाता ।

मनुष्याणां(म्) सहस्रेषु, कश्चिद्यतति सिद्धये ।

यततामपि सिद्धानां(ङ्), कश्चिन्मां(वँ्) वेत्ति तत्त्वतः ॥ 3 ॥

हजारों मनुष्यों में कोई एक मेरी प्राप्ति के लिए यत्न करता है और उन यत्न करने वाले योगियों में भी कोई एक मेरे परायण होकर मुझको तत्व से अर्थात् यथार्थ रूप से जानता है ।

भूमिरापोऽनलो वायुः(ख्), खं(म्) मनो बुद्धिरेव च ।

अहङ्कार इतीयं(म्) मे, भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ 4 ॥

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार भी- इस प्रकार ये आठ प्रकार से विभाजित मेरी प्रकृति है।

अपरेयमितस्त्वन्यां(म्), प्रकृतिं(वँ्) विद्धि मे पराम् ।

जीवभूतां(म्) महाबाहो, ययेदं(न्) धार्यते जगत् ॥ 5 ॥

यह आठ प्रकार के भेदों वाली तो अपरा अर्थात् मेरी जड़ प्रकृति है और हे महाबाहो! इससे दूसरी को, जिससे यह सम्पूर्ण जगत धारण किया जाता है, मेरी जीवरूपा परा अर्थात् चेतन प्रकृति जान ।

एतद्योनीनि भूतानि, सर्वाणीत्युपधारय ।

अहं(ङ्) कृत्स्नस्य जगतः(फ्), प्रभवः(फ्) प्रलयस्तथा ॥ 6 ॥

हे अर्जुन! तू ऐसा समझ कि सम्पूर्ण भूत इन दोनों प्रकृतियों से ही उत्पन्न होने वाले हैं और मैं सम्पूर्ण जगत का प्रभव तथा प्रलय हूँ अर्थात् सम्पूर्ण जगत का मूल कारण हूँ ।

मत्तः(फ्) परतरं(न्) नान्यत्- किञ्चिदस्ति धनञ्जय ।

मयि सर्वमिदं(म्) प्रोतं(म्), सूत्रे मणिगणा इव ॥ 7 ॥

हे धनंजय! मुझसे भिन्न दूसरा कोई भी परम कारण नहीं है। यह सम्पूर्ण जगत सूत्र में सूत्र के मणियों के सदृश मुझमें गुँथा हुआ है।

रसोऽहमप्सु कौन्तेय, प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।

प्रणवः(स्) सर्ववेदेषु, शब्दः(ख्) खे पौरुषं(न्) नृषु ॥ 8 ॥

हे अर्जुन! मैं जल में रस हूँ, चन्द्रमा और सूर्य में प्रकाश हूँ, सम्पूर्ण वेदों में ओंकार हूँ, आकाश में शब्द और पुरुषों में पुरुषत्व हूँ ।

पुण्यो गन्धः(फ्) पृथिव्यां(ञ्) च, तेजश्चास्मि विभावसौ ।

जीवनं(म्) सर्वभूतेषु, तपश्चास्मि तपस्विषु ॥ 9 ॥

मैं पृथ्वी में पवित्र गंध और अग्नि में तेज हूँ तथा सम्पूर्ण भूतों में उनका जीवन हूँ और तपस्वियों में तप हूँ ।

बीजं(म्) मां(म्) सर्वभूतानां(वँ), विद्धि पार्थ सनातनम् ।

बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि, तेजस्तेजस्विनामहम् ॥ 10 ॥

हे अर्जुन! तू सम्पूर्ण भूतों का सनातन बीज मुझको ही जान। मैं बुद्धिमानों की बुद्धि और तेजस्वियों का तेज हूँ ।

बलं(म्) बलवतां(ञ्) चाहं(ङ्), कामरागविवर्जितम् ।

धर्माविरुद्धो भूतेषु, कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥ 11 ॥

हे भरतश्रेष्ठ! मैं बलवानों का आसक्ति और कामनाओं से रहित बल अर्थात् सामर्थ्य हूँ और सब भूतों में धर्म के अनुकूल अर्थात् शास्त्र के अनुकूल काम हूँ ।

ये चैव सात्त्विका भावा, राजसास्तामसाश्च ये ।

मत्त एवेति तान्विद्धि, न त्वहं(न्) तेषु ते मयि ॥ 12 ॥

और भी जो सत्त्व गुण से उत्पन्न होने वाले भाव हैं और जो रजो गुण से होने वाले भाव हैं, उन सबको तू मुझसे ही होने वाले हैं ऐसा जान, परन्तु उनमें मैं और वे मुझमें नहीं हैं ।

त्रिभिर्गुणमयैर्भावै- रेभिः(स्) सर्वमिदं(ञ्) जगत् ।

मोहितं(न्) नाभिजानाति, मामेभ्यः(फ्) परमव्ययम् ॥ 13 ॥

गुणों के कार्य रूप सात्त्विक, राजस और तामस- इन तीनों प्रकार के भावों से यह सारा संसार-प्राणिसमुदाय मोहित हो रहा है, इसीलिए इन तीनों गुणों से परे मुझ अविनाशी को नहीं जानता ।

दैवी ह्येषा गुणमयी, मम माया दुरत्यया ।

मामेव ये प्रपद्यन्ते, मायामेतां(न्) तरन्ति ते ॥ 14 ॥

क्योंकि यह अलौकिक अर्थात् अति अद्भुत त्रिगुणमयी मेरी माया बड़ी दुस्तर है, परन्तु जो पुरुष केवल मुझको ही निरंतर भजते हैं, वे इस माया को उल्लंघन कर जाते हैं अर्थात् संसार से तर जाते हैं ।

न मां(न्) दुष्कृतिनो मूढाः(फ्), प्रपद्यन्ते नराधमाः ।

माययापहृतज्ञाना, आसुरं(म्) भावमाश्रिताः ॥ 15 ॥

माया द्वारा जिनका ज्ञान हरा जा चुका है, ऐसे आसुर-स्वभाव को धारण किए हुए, मनुष्यों में नीच, दूषित कर्म करने वाले मूढ़ लोग मुझको नहीं भजते ।

चतुर्विधा भजन्ते मां(ञ्), जनाः(स्) सुकृतिनोऽर्जुन ।

आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी, ज्ञानी च भरतर्षभ ॥ 16 ॥

हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ अर्जुन! उत्तम कर्म करने वाले अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी- ऐसे चार प्रकार के भक्तजन मुझको भजते हैं ।

तेषां(ञ्) ज्ञानी नित्ययुक्त, एकभक्तिर्विशिष्यते ।

प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थ- महं(म्) स च मम प्रियः ॥ 17 ॥

उनमें नित्य मुझमें एकीभाव से स्थित अनन्य प्रेमभक्ति वाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम है क्योंकि मुझको तत्व से जानने वाले ज्ञानी को मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है ।

उदाराः(स्) सर्व एवैते, ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।

आस्थितः(स्) स हि युक्तात्मा, मामेवानुत्तमां(ङ्) गतिम् ॥ 18 ॥

ये सभी उदार हैं, परन्तु ज्ञानी तो साक्षात् मेरा स्वरूप ही है- ऐसा मेरा मत है क्योंकि वह मद्गत मन-बुद्धिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम गतिस्वरूप मुझमें ही अच्छी प्रकार स्थित है ।

बहूनां(ञ्) जन्मनामन्ते, ज्ञानवान्मां(म्) प्रपद्यते ।

वासुदेवः(स्) सर्वमिति, स महात्मा सुदुर्लभः ॥ 19 ॥

बहुत जन्मों के अंत के जन्म में तत्व ज्ञान को प्राप्त पुरुष, सब कुछ वासुदेव ही हैं- इस प्रकार मुझको भजता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है ।

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः(फ्), प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।

तं(न्) तं(न्) नियममास्थाय, प्रकृत्या नियताः(स्) स्वया ॥ 20 ॥

उन-उन भोगों की कामना द्वारा जिनका ज्ञान हरा जा चुका है, वे लोग अपने स्वभाव से प्रेरित होकर उस-उस नियम को धारण करके अन्य देवताओं को भजते हैं अर्थात् पूजते हैं ।

यो यो यां(यँ) यां(न्) तनुं(म्) भक्तः(श्), श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।

तस्य तस्याचलां(म्) श्रद्धां(न्), तामेव विदधाम्यहम् ॥ 21 ॥

जो-जो सकाम भक्त जिस-जिस देवता के स्वरूप को श्रद्धा से पूजना चाहता है, उस-उस भक्त की श्रद्धा को मैं उसी देवता के प्रति स्थिर करता हूँ ।

स तया श्रद्धया युक्तस्- तस्याराधनमीहते ।

लभते च ततः(ख्) कामान्- मयैव विहितान्हि तान् ॥ 22 ॥

वह पुरुष उस श्रद्धा से युक्त होकर उस देवता का पूजन करता है और उस देवता से मेरे द्वारा ही विधान किए हुए उन इच्छित भोगों को निःसंदेह प्राप्त करता है ।

अन्तवत्तु फलं(न्) तेषां(न्), तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।

देवान्देवयजो यान्ति, मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥ 23 ॥

परन्तु उन अल्प बुद्धिवालों का वह फल नाशवान है तथा वे देवताओं को पूजने वाले देवताओं को प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त चाहे जैसे ही भजें, अन्त में वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।

अव्यक्तं(वँ) व्यक्तिमापन्नं(म्), मन्यन्ते मामबुद्धयः ।

परं(म्) भावमजानन्तो, ममाव्ययमनुत्तमम् ॥ 24 ॥

बुद्धिहीन पुरुष मेरे अनुत्तम अविनाशी परम भाव को न जानते हुए मन-इन्द्रियों से परे मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मा को मनुष्य की भाँति जन्मकर व्यक्ति भाव को प्राप्त हुआ मानते हैं ।

नाहं(म्) प्रकाशः(स्) सर्वस्य, योगमायासमावृतः ।

मूढोऽयं(न्) नाभिजानाति, लोको मामजमव्ययम् ॥ 25 ॥

अपनी योगमाया से छिपा हुआ मैं सबके प्रत्यक्ष नहीं होता, इसलिए यह अज्ञानी जनसमुदाय मुझ जन्मरहित अविनाशी परमेश्वर को नहीं जानता अर्थात् मुझको जन्मने-मरने वाला समझता है ।

वेदाहं(म्) समतीतानि, वर्तमानानि चार्जुन ।

भविष्याणि च भूतानि, मां(न्) तु वेद न कश्चन ॥ 26 ॥

हे अर्जुन! पूर्व में व्यतीत हुए और वर्तमान में स्थित तथा आगे होने वाले सब भूतों को मैं जानता हूँ, परन्तु मुझको कोई भी श्रद्धा-भक्तिरहित पुरुष नहीं जानता ।

इच्छाद्वेषसमुत्थेन, द्वन्द्वमोहेन भारत ।

सर्वभूतानि सम्मोहं(म्), सर्गे यान्ति परन्तप ॥ 27 ॥

हे भरतवंशी अर्जुन! संसार में इच्छा और द्वेष से उत्पन्न सुख-दुःखादि द्वंद्वरूप मोह से सम्पूर्ण प्राणी अत्यन्त अज्ञता को प्राप्त हो रहे हैं ।

येषां(न्) त्वन्तगतं(म्) पापं(ञ्), जनानां(म्) पुण्यकर्मणाम् ।

ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता, भजन्ते मां(न्) दृढव्रताः ॥ 28 ॥

परन्तु निष्काम भाव से श्रेष्ठ कर्मों का आचरण करने वाले जिन पुरुषों का पाप नष्ट हो गया है, वे राग-द्वेषजनित द्वन्द्व रूप मोह से मुक्त दृढ़निश्चयी भक्त मुझको सब प्रकार से भजते हैं ।

जरामरणमोक्षाय, मामाश्रित्य यतन्ति ये ।

ते ब्रह्म तद्विदुः(ख्) कृत्स्न- मध्यात्मं(ङ्) कर्म चाखिलम् ॥ 29 ॥

जो मेरे शरण होकर जरा और मरण से छूटने के लिए यत्न करते हैं, वे पुरुष उस ब्रह्म को, सम्पूर्ण अध्यात्म को, सम्पूर्ण कर्म को जानते हैं ।

साधिभूताधिदैवं(म्) मां(म्), साधियज्ञं(ञ्) च ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च मां(न्), ते विदुर्युक्तचेतसः ॥ 30 ॥

जो पुरुष अधिभूत और अधिदैव सहित तथा अधियज्ञ सहित सबका आत्मरूप मुझे अन्तकाल में भी जानते हैं, वे युक्तचित्तवाले पुरुष मुझे जानते हैं अर्थात् प्राप्त हो जाते हैं ।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि
श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां(यँ) योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसं(वँ)वादे ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ 7 ॥

ॐ पूर्णमदः(फ्) पूर्णमिदं(म्)पूर्णात्पूर्णमुदच्यते
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
ॐ शांतिः(श्) शांतिः(श्) शांतिः ॥

वह सच्चिदानंदघन परब्रह्म सभी प्रकार से सदा सर्वदा परिपूर्ण है। यह जगत भी उस परमात्मा से पूर्ण ही है, क्योंकि यह पूर्ण उस पूर्ण पुरुषोत्तम से ही उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार परब्रह्म की पूर्णता से जगत पूर्ण होने पर भी वह परब्रह्म परिपूर्ण है। उस पूर्ण में से पूर्ण को निकाल देने पर भी वह पूर्ण ही शेष रहता है।